भारत में उदारवादी नीतियों का प्रभाव

* दीपेन्द्र कुमार सिंह

बीसवीं सदी के सातवें दशक के दौरान विश्व–स्तर पर एक बड़ा बदलाव आर्थिक स्तर पर हुआ, इस आर्थिक बदलाव को उदारीकरण की संज्ञा दी गई। उदारीकरण की नीति वित्तीय बाजार, पूँजी बाजार एवं व्यापारिक बन्धनों को खत्म करने की प्रक्रिया से निर्धारित होती है। इसी प्रक्रिया के तहत विकसित देशों को विकासशील देशों की मंडियों में घुसने के एकतरफा अवसर प्रदान करते हैं। इसलिए उदारीकरण की नीति के अन्तर्गत दो प्रकार के नियमों का सूत्रपात किया गया –

1. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का उदारीकरण जिसका अर्थ है देशों द्वारा व्यापार पर आरोपित प्रतिबन्धों को हटाकर उनके बीच पूँजी, वस्तु एवं सेवाओं के निर्बन्ध प्रवाह को सुनिश्चित करना।
2. इस नीति में आवश्यकतानुसार प्रत्येक देश के आर्थिक ढाँचे में परिवर्तन करना।

इन्हीं नियमों के आधार पर वृद्ध पूँजीवाद का युग शुरू हुआ, जहाँ कारखाने से बना माल (उत्पाद) कम, उपभोक्ता माल, (कोक– चिप्स) पूँजी (कर्ज–अनुदान) और सेवा आदि का व्यापार अधिक होता है। इसलिए कुछ विचारकों ने इसे अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की उपज मानते हुए इसे नवीन आर्थिक परिघटना माना है। इस संदर्भ में कमल नयन काबरा का मानना है कि – ''आठवें दशक में उदारीकरण की यह प्रक्रिया दुनिया में एक नए किस्म की, धनी देशों के वर्चस्व को बरकरार और मजबूत रखने वाली अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की शुरूआत हुई। इस नई व्यवस्था के अन्य बिन्दु थे – मुक्त व नियंत्रणहीन व्यापार करों में खासकर प्रत्यक्ष करों में कटौती, राज्य के खर्च में कमी तथा राज्य द्वारा लागू किये गये आर्थिक नियन्त्रणों की समाप्ति, मुद्रा तथा पूँजी बाजारों पर से सब नियन्त्रणों की समाप्ति, सार्वजनिक – उद्योगों का निजीकरण, बहुउद्देशीय कम्पनियों तथा निजी

* शोधछात्र, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

उद्यम की विश्व–अर्थव्यवस्था के मंच पर राष्ट्रीय–राजकीय नियन्त्रणों से मुक्ति।'' (भूमण्डलीकरण विचार नीतियाँ और विकल्प – कमल नयन काबरा, पृ. 35.)

इस तरह देखें तो उदारीकरण की नीति के तहत वित्तीय पूँजी स्थिर विनिमय–दरों की कैद से आजाद होकर दुनिया भर में चलायमान पूँजी के रूप में रूपान्तरित हो गई। इस चलायमान पूँजी (चंचल पूँजी) की तीसरी दुनिया में विस्तार देने के लिए वातावरण बनाने और समर्थन जुटाने के प्रयासों में विदेशी ताकतों, संस्थाओं और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का बड़ा हाथ था। 'उन्होंने इस मकसद के लिए स्विट्जरलैण्ड में दावोस नामक रमणीय स्थान पर 'विश्व आर्थिक फोरम' के झण्डे तले एक सलाना शिखर सम्मेलन बुलाना शुरू किया। इस शिखर सम्मेलन में तीसरी दुनिया को भी शामिल किया गया। अतः उदारीकरण के इन प्रवर्तकों लाभान्वितों में बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ, अन्तर्राष्ट्रीय बैंक, शेयर, बाजार, वित्तीय क्षेत्र आदि अगली कतार में रहते थे।' (बदलता भारत दावे और हकीकत, लेख – कम्पनीकारण : अब खेती की बारी, कमलनयन काबरा, पृ. 160)

इससे स्पष्ट है कि उदारीकरण के नाम पर 'सुधार या विकास' मूलतः उन्हीं की कल्पना, उन्हीं की ईजाद है। ये ऊपर से चलकर निचले स्तरों को मंजूर कराये जाते हैं। अतः तीसरी दुनिया के मानस में इन सुधारों के प्रति कट्टर लगाव पैदा करना, इन्हें तीसरी दुनिया में लागू करने में बाहरी समर्थन का आश्वासन देना दावोस के आर्थिक शिखर सम्मेलन का सफल मकसद साबित हुआ।

अतः उदारीकरण के इस मूल सिद्धान्त 'डिपेंडेंसी थ्योरी' के अन्तर्गत तीसरी दुनिया के विकास, सुधार और बाहरी समर्थन की नीति को इसके अघोषित और मुख्य उद्देश्य के एक प्रमुख ध्येय में सफलता जरूर मिली है। वह उद्देश्य है तीसरी दुनिया के देशों को विकास के नाम पर धनी औद्योगीकृत, भूतपूर्व उपनिवेशी शासक देशों की अर्थव्यवस्था से और ज्यादा गहराई से पुख्ता रूप में व्यापार–निवेश, तकनीक, वित्त और उपभोग ढाँचे

के तारों से जोड़ना। इस तरह उदारीकरण कहीं जाने वाली प्रक्रिया का पिछले दो दशकों में काफी फैलाव हुआ है।

इस तरह देखे तो ''1970 के पूर्वार्द्ध में शुरू की गई उदारीकरण की नीतियों ने सन् 1990 तक आते–आते तीसरी दुनिया के देशों में अपने पैर जमा लिये, क्योंकि उसको रोकने में कड़ी चुनौती देने वाला साम्यवाद ताश के पत्तों के महल की तरह इस अवधि तक चरमराकर ढ़ह गया था। अतः सोवियत संघ के विघटन के कारण दुनिया का वैचारिक माहौल ही बदल गया। इस बदली हुई वैचारिक वातावरण की स्थिति से अति–उत्साहित होकर उदारवाद के समर्थक कहने लगे कि उनका रास्ता ही दुनिया की एक मात्र गति और नियति है।'' (भूमण्डलीकरण विचार नीतियाँ और विकल्प – कमल नयन काबरा, पृ. 31)

इस तरह से दुनिया के इतिहास में यह पहली बार हुआ है, जहाँ 1990 तक दुनिया का कोई भी हिस्सा पूँजीवादी मंडी से अछूता नहीं रह गया है, बल्कि सभी देश इस मंडी के हिस्से बन चुके है। ''ये बिल्कुल नये किस्म के हालात है। क्योंकि यदि आप इसके सदस्य है तो इसके कानून कायदों को मानना पड़ेगा। यदि नहीं है तो दूसरे प्रकार के दबावों को झेलना पड़ेगा। आपके खिलाफ प्रतिबंध भी लगाये जा सकते हैं। इस काम के लिए संयुक्त राष्ट्र का इस्तेमाल भी किया जा सकता है आप पर जुर्माने किये जा सकते है।'' (समयांतर पुस्तक – वैश्वीकरण के दौर में, सं. रामशरण जोशी, लेख – साम्राज्यवाद का नया चेहरा – एजाज अहमद, पृ. 42)

इन तथ्यों से स्पष्ट है कि उदारवाद के रास्ते से पूँजीवादी देशों का तीसरी दुनिया पर वर्चस्व बनाये रखने की कोशिश है। यदि भारत के संदर्भ में देखे तो भारत भी उदारीकरण के मूल सिद्धान्त 'डिपेंडेंसी थ्योरी' के अन्तर्गत इसका हिस्सा बना। 'इसी सिद्धान्त के अन्तर्गत 1983 में भारत सरकार ने आई.एम.एफ. से कर्ज लेना शुरू किया। अतः कर्ज लेने की प्रक्रिया जैसे ही शुरू हुई भारत में उदारीकरण की प्रक्रिया दिनोंदिन बढ़ती चली गई।' (युवा संवाद – अगस्त 2005, लेख – उदारीकरण की

असलियत – डॉ. सुबोध नारायण मालाकार)

इस तरह से देखें तो अपनी निर्यात क्षमता को विकसित करने तथा आयात क्षमता को कम करने के लिए भारत ने विदेशी अर्थनीति को अपनाने की प्रक्रिया शुरू की। इस विदेशी कर्ज के लेन–देन का एक ही उद्देश्य था निर्यात क्षमता की अपेक्षा आयात क्षमता को घटाना। विदेशी अर्थनीति की इस प्रक्रिया में दो बातें महत्वपूर्ण थी, पहला जहाँ विदेशी कर्ज ऊँची ब्याज दरों पर निर्धारित की गई थी, वहीं दूसरा इस नीति में भुगतान की अवधि भी बहुत कम थी। ''पश्चिम के इस संरक्षणवाद की प्रक्रिया में भारत 1991 तक आते–आते बुरी तरह फँस गया। विदेशी मुद्रा की इस विकट स्थिति ने हमारे शासकों को पूरी तरह से हिला दिया। एक ओर विशाल बजट घाटा (राजकोषीय घाटा) और दूसरी ओर भुगतान संतुलन की बिगड़ती हुई स्थिति। साथ ही आयात जारी रखने की मजबूरी।'' (भूमण्डलीकरण के भँवर में भारत – कमलनयन काबरा, लेख – जगतीकरण और विदेशी कर्ज, पृ. 82)

अतः उदारीकरण के नाम पर अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष और विश्व बैंक से बहुत ही सशर्त कर्ज लेकर काम चलाने की कोशिश ने भारत को संकटग्रस्त की स्थिति में पहुँचा दिया। ऐसी संकटग्रस्त स्थितियों का ही परिणाम है कि हमारी सारी नीतियों पर, हमारी सोच पर विदेशी मुद्रा के भारी अभाव का तथा विदेशी ताकतों के सामने हीन–भावनापूर्ण घुटनाटेक मनोवृत्ति का प्रभाव बरकरार रहा।

उदारीकरण की नीति के अन्तर्गत बजट और भुगतान संतुलन को ठीक रखने के लिए सरकारी खर्च को कम करने का सुझाव दिया गया, यानी ''सरकारी खर्च में कमी के कारण आयात घटने की उम्मीद की गई। पर साथ–साथ आयातों की खुली छूट देने और कस्टम ड्यूटी घटाने की व्यवस्था ने जाहिर कर दिया कि इस नीति का मकसद आयात घटाना नहीं था, बल्कि हमारे रुपये का अवमूल्यन करना था क्योंकि 1991 के बाद आयात में अभूतपूर्व बढ़त और रुपये के अवमूल्यन के कारण हमारा माल

बाहरी बाजारों में सस्ता बिकने लगा।'' (भूमण्डलीकरण के भँवर में भारत – लेख – जगतीकरण और विदेशी कर्ज, पृ. 85)

इस नीति के अन्तर्गत भारत में न केवल आयात बढ़े और हमारे निर्यात सस्ते बिके बल्कि विदेशी पूँजी के निवेश, उसके हमारे शेयर, बाजार में प्रवेश और ज्यादा मात्रा में विदेशी कर्ज को भारत में आने की छूटें दी गयी, और इन्हें अधिक आकर्षक करने के लिए वित्तीय और राजकोषीय नीति में परिवर्तन किये गये। इस नीतिगत परिवर्तनों को भारतीय अर्थव्यवस्था में उदारीकरण का नाम दिया गया।

इस तरह यह साफ हो जाता है कि ''उदारीकरण का नारा भारत की चन्द धनी देशों पर निर्भरता बढ़ाने, उन्हें भारत के विशाल बाजार का लाभ उठाने के अवसर प्रदान करने, भारत के माल को रुपये के अवमूल्यन के द्वारा सस्ते में हथियाने, भारत की बड़ी कम्पनियों और धनिकों को ज्यादा मुनाफा, एकाधिकार, पश्चिम की नकल का उपभोग प्रदान करने तथा राजनीतिकों और अफसरशाही को ज्यादा कमीशन और रिश्वत खाने के अवसर देने के मकसद से किये गये नीतिगत परिवर्तनों का नाम है। स्पष्ट है कि इस नीति से आम–आदमी, स्थानीय समुदायों, पिछड़े प्रदेशों और सम्पूर्ण राष्ट्रीय शक्ति को कोई लाभ मिलने वाला नहीं था।'' (भूमण्डलीकरण के भँवर में भारत – लेख – जगतीकरण और विदेशी कर्ज, पृ. 86)

यद्यपि आर्थिक सुधार और उदारीकरण का दौर शुरू होने के साथ देश में 'मुक्त बाजार' के विस्तार और 'खास किस्म के विकास' को काफी बल मिला है। महानगरों से लेकर ग्रामीण खनिज संपदा वाले सूबों तक में इस नीति का असर देखा जा सकता है। अतः शासन और उदारीकरण की नीति के सिद्धान्तकार उच्च विकास दर के नए–नए दावों से समाज को चमत्कृत करने में लगे थे, कुछ समाजशास्त्री तो यह बताने में लगे थे कि यह नई व्यवस्था दलित–पिछड़ों और अन्य उत्पीड़ितों के लिए उनकी मुक्ति और विकास का नया रास्ता बना सकती है। लेकिन वह सब झूठ साबित हुआ क्योंकि सरकारी आँकड़े बताते हैं कि इस नीति से समाज का बड़ा

हिस्सा बेहाल होता गया।

''छत्तीसगढ़, झारखंड और उड़ीसा में हाल के दिनों में वहाँ की सरकारों ने खनिज संपदा के दोहन की शुरूआत बड़ी कम्पनियों के साथ मिलकर विकास के नाम पर की। इस खनिज संपदा के दोहन का परिणाम वहाँ के गरीब, आदिवासी और पिछड़ी जातियों पर पड़ा क्योंकि विकास के नाम पर लाखों को बेदखल किया गया और असंख्य लोगों की भूमि हड़पी गई।'' (उदारीकरण और विकास का सच – सं. उर्मिलेख, पृ. 13)

इस तरह के उदारीकरण और सुधार के दौर में समाज का बड़ा हिस्सा जहाँ बेहाल हो रहा है, वहीं कुछ सीमित लोग आबाद हो रहे हैं। ''इसलिए समाज का बड़ा हिस्सा चाहता है कि विकास के इस मॉडल पर गंभीर बहस हो। लेकिन इस बहस को यह कहते हुए रोकने की कोशिश हो रही है कि सामाजिक–आर्थिक विकास की तेज गति सुनिश्चित करने के लिए कुछ न कुछ बलिदान तो करना ही होगा, कुछ न कुछ समस्याएँ तो उठेंगी ही।'' (उदारीकरण और विकास का सच – सं. उर्मिलेश, पृ. 12)

''2003 में जब दुनिया भर में तमाम खनिजों के दामों में उछाल आया, तब भारत का खनन क्षेत्र अपनी पूरी संभावनाओं के साथ उजागर हुआ। यह वही वक्त था जब भारतीय जनता पार्टी के नेतृत्व वाली एन.डी.ए. सरकार का अवसान हो रहा था और चुनाव सिर पर थे। यह वही वक्त था जब पी. चिदंबरम वेदांता का मुकदमा लड़ रहे थे और वहाँ नौकरी भी कर रहे थे। हम देख सकते है इसके बाद लगातार खनिजों का बाजार चढ़ता गया। अतः 2004 से उदारवादी विकास के नाम पर खनन क्षेत्र में लूट शुरू हुई। स्पष्ट है कि उदारीकरण की नीति के तहत जो लूट की प्रक्रिया शुरू हुई उसका परिणाम हमें सिंगुर, नन्दीग्राम, कलिंगनगर में आदिवासियों की हत्या के रूप में मिलता है।'' (21वीं सदी के भारत में उदारीकरण निजीकरण के मायने – अभिषेक श्रीवास्तव, पृ. 81)

अब कुछ इसी तर्ज पर खेती के क्षेत्र में भी भारत के लाखों गाँवों तक इन सुधारों को पहुँचाने का अभियान उदारीकरण की नीति के तहत

चल रहा है। यानी 'मुक्त बाजार' से भारतीय कृषि को जोड़ने की मुहिम जोरों से चल रही है। ''अभी हाल ही में कृषि पर हुए शिखर सम्मेलन में प्रधानमंत्री ने कहा था कि यूपीए सरकार खेती को एक नयी सौगात, एक नई सकारात्मक दिशा देना चाहती है। एक सरकारी अधिकारी ने कृषि शिखर सम्मेलन में इस कथन को ज्यादा साफ शब्दों में प्रकट किया कि अब गुजर–बसर की खेती (जो कि व्यवसाय कम और जीवन पद्धति अधिक होती है) के स्थान पर उद्यमिता आधारित खेती की ओर मोड़ने की जरूरत है जिसमें निजी और सार्वजनिक दोनों क्षेत्रों की भागीदारी हो।'' (बदलता भारत – कमल नयन काबरा, लेख – नयी व्यवस्था में किसान, पृ. 164)

उपरोक्त वक्तव्य से स्पष्ट है कि अब जरूरत के आधार पर अनाज के उत्पादन का जमाना बीत चुका है। नयी तकनीकों के आधार पर व्यवसाय की तरह संचालित खेती में महँगी और देश–विदेश में माँगी जाने वाली कृषिजन्य वस्तुओं का उत्पादन होना चाहिए। उन वस्तुओं को विनिर्माण प्रक्रिया से निकालकर उनका 'मूल्य संवर्द्धन' होना चाहिए। इस तरह कृषि का व्यवसायीकरण और पुख्ता होकर सारे देश में फैल जाएगा।

इस तरह देखें तो मुक्त बाजार से आज भारतीय कृषि को जोड़ने की मुहिम जोरों से चल रही है। इस मुहिम का ही परिणाम है कि 'कृषि योग्य भूमि और जंगलों मैदानों को बड़े पैमाने पर अधिग्रहित किया गया। जमीन का रूपांतरण उद्योग बाजार, ऑफिस, मकान, स्कूल, कॉलेज, सड़क आदि रूपों में हुआ जिससे कृषि और पर्यावरण दोनों की क्षति हुई। पानी बिजली तेल और अन्य प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग शुरू हुआ। पिछले दस वर्षों में 1.8 हेक्टेयर जमीन खेती से निकल अन्य क्षेत्र में चली गई। अतः अब जमीन ठोस चीज न होकर 'लिक्विड कैश' में बदल गई है। आज यह पूँजी, निवेश और मुनाफे का सबसे लोकप्रिय क्षेत्र बन गया है।'' (कथादेश – पत्रिका मई – 2012, लेख – लोक संस्कृति के संदर्भ में कृषि संस्कृति का अर्थशास्त्र – प्रो. गोरेलाल चंदेल)

स्पष्ट है कि इस उदारवादी नीति से उद्योग के विकास और कृषि

भूमि के विनाश से आत्मनिर्भरता की अर्थव्यवस्था बाजार निर्भरता की अर्थव्यवस्था में तब्दील होने लगी है। इस बाजारवादी अर्थव्यवस्था का ही परिणाम है कि जहाँ कुछ दशक पहले तक किसान, बीज, खाद और पानी के मामले में आत्मनिर्भर थे और बाहरी खाद, पानी और बीज पर खर्च किए बिना ही विविध तरह की फसलें और उसकी बहुत सी किस्में उगाते थे। ''लेकिन आज किसान बाजार के महँगे खाद और बीजों पर अत्यधिक निर्भर हो चुके हैं, जिससे खेती को टिकाऊ व सस्ता बनाने वाला अन्य परम्परागत ज्ञान भी तेजी से कम हुआ है क्योंकि एक पीढ़ी द्वारा दूसरी पीढ़ी को पहले जैसे परम्परागत ज्ञान दिया जाता था वह प्रवृत्ति भी तेजी से कम हुई है।'' (राष्ट्रीय सहारा – 16 अक्टूबर 2013, लेख – खेती को बचाएं बगैर कैसी खाद्य सुरक्षा – भारत डोगरा)

इस तरह देखें तो खेती के संकट के साथ–साथ किसानों की दुर्दशा का कारण भी उदारीकरण की नीतियाँ हैं क्योंकि ''इस बाजारवादी नीतियों का ही परिणाम है कि 1991 से 2001 के बीच लगभग 80 लाख किसानों ने जहाँ खेती से किनारा कर लिया वहीं दूसरी तरफ प्रतिवर्ष लाखों किसान आत्महत्या कर रहे हैं।'' (कथादेश – मई 2012, लेख – भारत में किसानों की आत्महत्या – मैनेजर पाण्डेय, पृ. 34)

अतः आज नये सौदागरों ने अपनी नीतियों के माध्यम से किसानों के सामने दो ही रास्ते छोड़े हैं या तो गुलामी या मौत। अतः आज जो लोग कृषि को उद्योगों का दर्जा देने की वकालत करते हैं, वे या तो इसके निहितार्थों से अनभिज्ञ है या जानबूझकर बड़े उद्योगों और बड़े औद्योगिक फार्मों के विकास के लिए छोटे किसानों का अस्तित्व मिटाने का वातावरण बना रहे हैं।

किसान और किसानी के साथ–साथ रोजगार की स्थिति भी इस उदारवादी नीतियों में बद से बदतर होती गई है। इस स्थिति का जिम्मेदार विकास के नाम पर बनाई गई बाजारवादी नीतियाँ है इस नीति का पहला और महत्वपूर्ण तथ्य है नियमित रोजगार में अत्यधिक धीमी वृद्धि दर। इसका

कारोबार में आंतरिक बाजार की तुलना में बाह्य बाजार का महत्व बढ़ाना और तीसरा उत्पादकता बढ़ाने के लिए मशीनीकरण के जरिए श्रमशक्ति में कटौती करना। कुछ विशेष मामलों में इस प्रक्रिया को अमल में लाए जाने की झलक देखी जा सकती है।

''फाइनेंशियल टाइम्स (लंदन) के एडवर्ड ल्यूस ने रिपोर्ट दी है कि टाटा समूह के जमशेदपुर इस्पात संयत्र में 1991 में 85000 कर्मचारी कार्यरत थे जो 8 लाख अमरीकी डॉलर का 10 लाख टन इस्पात बनाते थे। वर्ष 2005 में इसका उत्पादन बढ़कर 50 लाख टन हो गया और संयंत्र को 50 लाख डॉलर की कमाई होने लगी लेकिन कर्मचारियों की संख्या घटकर 44000 रह गई। संक्षेप में कहा जाए तो उत्पादन लगभग पाँच गुना बढ़ गया, जबकि कामगारों की संख्या आधी हो कर रह गई। इसी तरह पुणे स्थिति टाटा मोटर्स ने वर्ष 1999 से 2004 के बीच कामगारों की संख्या 35 हजार से घटाकर 21 हजार कर दी। लेकिन इसी दौरान वहाँ वाहनों की उत्पादन संख्या 1 लाख 29 हजार से बढ़कर 3 लाख 11 हजार 500 हो गई। यानी प्रति कामगार की श्रम उत्पादकता में चार गुना तक की वृद्धि की गई।'' (उदारीकरण और विकास का सच; सं. – उर्मिलेश, लेख – विकास विरोध वृद्धि दर और बढ़ता अँधेरा – अमित भादुड़ी)

ये आँकड़े इस धारणा के खिलाफ एक पुख्ता सबूत हैं कि निगम–संचालित औद्योगीकरण और अधिकतम प्रत्यक्ष विदेशी निवेश से भारत के विभिन्न राज्यों में ज्यादा रोजगार सृजित होंगे। इस तरह देखें तो मशीनीकरण के माध्यम से पश्चिम के शोषण और विस्तार की यह एक तार्किक व्यवस्था है। शोषण की इस नई आर्थिक कार्य कुशलता को बढ़ाने में देश का प्रशासन और राजनीतिक नेता भी सहयोग कर रहे हैं, जो इस आर्थिक सामाजिक वास्तविकताओं से कोसों दूर है। कहना न होगा कि अपनी इसी अक्षमता के कारण उदारवादी नीति को अपना पूरा समर्थन दे रहे हैं। वे ये भी देखने में असमर्थ हैं कि यह महान उदारवादी यूटोपिया न सिर्फ शहरों को बल्कि ग्रामीण क्षेत्रों को भी गरीबी एवं बेरोजगारी के चंगुल में

फँसाता जा रहा है। इस संदर्भ में 'प्रसिद्ध फ्रेंच समाजशास्त्री और दार्शनिक पियरे वोर्दियों ने दिसम्बर 1998 में उदारवाद पर एक लेख लिखा। इस लेख में बोर्दियों ने बताया है कि – ''उदारवाद का सार है असीमित शोषण का मनोवांछित लोक कायम करना।'' (जनसत्ता – 9 अक्टूबर 2006, लेख – शोषण के नये सूत्र, गिरीश मिश्र, पृ. 6)

दूसरे शब्दों में कहें तो यह उदारवाद की नीति ऐसी स्थिति का सृजन करता है, जहाँ वह बिना प्रतिरोध के संसाधनों का दोहन और श्रम का शोषण कर अधिकतम मुनाफा पूँजी के लिए संभव बना सके। ''इसके लिए वे एक तरफ उत्पादन में अधिक से अधिक स्वचालित मशीनों से लेकर श्रमिकों को हटा रहे हैं, तो दूसरी तरफ निजीकरण के जरिए श्रमिकों के संगठित या औपचारिक क्षेत्र को असंगठित या अनौपचारिक क्षेत्र में बदल रहे हैं।'' (आज के सवाल (खण्ड–8), सं. रमेश उपाध्याय, लेख – विकल्प है श्रम का भूमण्डलीकरण, पृ. 70)

इस तरह पूँजीवाद अपने पूँजी को विकसित करने के लिए सामूहिक प्रयासों और संस्थाओं को आज सिलसिलेवार नष्ट करते जा रहे हैं। ''अतः यह उदारवादी यूटोपिया ऐसे सब सामूहिक प्रयासों और संस्थाओं को विध्वंस कर देना चाहते हैं, जो विशुद्ध बाजार के तर्क पर उंगली उठाता है, इनका मानना है कि राष्ट्र–राज्य की कार्रवाई करने की क्षमता के दायरे को जहाँ तक हो सके कम किया जाए, जिससे न कोई श्रम संगठन रहे और न ही इस तरह की कोई संस्था, जिसके जरिए श्रमिक अपनी मजदूरी और काम की दशा से जुड़े सवाल और माँग को सामूहिक रूप से उठाए।'' (जनसत्ता – 9 अक्टूबर 2006, लेख – शोषण के नये सूत्र, गिरीश मिश्र, पृ. 6)

उपरोक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि उदारवादी व्यवस्था की इस नीति से आज मजदूरों या कर्मियों के बीच एकजुटता, सौहार्द्र और परस्पर संवेदनशीलता बढ़ने के बजाय वे अकेले परस्पर संघर्षरत दिखते हैं। इस अलगाववाद के संदर्भ में बोर्दियों ने कहा कि यह अनिश्चितता भरा

वातावरण मजदूरों या कर्मियों को लड़ाकू या जुझारू बनाने के बजाय उन्हे दब्बू या लिजलिजा बनाता है, जिसमें बेरोजगारी का खतरा उन्हें हमेशा दिखता और भयभीत करता है।

इस उदारवादी नीति के अन्तर्गत कारोबार में आन्तरिक बाजार की तुलना में जो बाह्य बाजार का महत्व बढ़ा है। उसने बहुत कुछ नया किया है। यदि देखें तो विनिमय और बाजार सृष्टि के आरम्भ से ही रहा है, लेकिन पुराने बाजार से इस मुक्त बाजार में बड़ा फर्क है क्योंकि ''यह नया बाजार तेज स्पर्धा, सूचना से मूल्य निर्माण और वित्तीय पूँजी की चंचलता और वित्तीय तरलता से संचालित होकर उन दबे हुए हाशिए के लोगों को उपभोक्ता बनाकर बाजार में लाती है, जो अभी तक नहीं आये थे या लाए नहीं गये थे।'' (पत्रिका हंस – अक्टूबर 2005, सं. राजेन्द्र यादव, लेख – राष्ट्रीय संप्रभुता के बिना कोई संस्कृति नहीं रह सकती – आनन्द प्रधान, पृ. 119)

अतः इस मुक्त बाजार ने ग्रामीण जीवन में विलासिता, सम्पन्नता और भव्यता के सम्मिश्रण का नजारा पेश किया है। जाहिर है इसने इस सम्मिश्रण में परम्परागत उपभोक्ता को विशिष्ट उपभोक्ता बनने के लिए प्रेरित और विवश किया है। इसलिए ''उदारीकरण के तहत लाये गये इस मुक्त बाजार को ध्यान से परखे तो इसका कोई मानवीय चेहरा हो ही नहीं सकता, क्योंकि यह अपने आदर्श रूप में उन्मुक्त प्रतिस्पर्धा (फ्री कंपटीशन) आर्थिक क्षेत्र को एक ऐसा युद्ध क्षेत्र बनाना चाहता है, जिसमें पिछड़ने वाले को विनष्ट होना ही है। उन्हें किसी तरह की सरकारी या गैर सरकारी सहायता पहुँचाना इसके मूल नियमों की अवहेलना है।'' (लोकतंत्र की चुनौतियाँ – सच्चिदानंद सिन्हा, पृ. 108)

उपरोक्त कथन से स्पष्ट है कि यह मुक्त बाजार पूरी तरह क्रेता–विक्रेता और उत्पादक की आर्थिक अंतःक्रिया पर आधारित है, इसलिए इसमें वही भाग ले सकता है जो या तो कुछ बेचना चाहता है, या खरीदना। और यदि आपके पास क्रयशक्ति नहीं है तो आप इस बाजार के

बाहर फेंक दिये जायेंगे। संक्षेप में कहें तो उदारीकरण बाजार के माध्यम से सांस्कृतिक क्षेत्र पर प्रहार करके अपने साम्राज्य का विस्तार कर रहा है। इसके इस विस्तार में हमारे परम्परागत अर्थ व्यवस्था और परम्परागत उद्योग नष्ट होते जा रहे हैं, जिसका प्रभाव भारत की सामाजिक संरचना पर सीधा पड़ रहा है। अतः उदारीकरण के नाम पर समय को मूल्यवान बनाने का जो कोलाहल पैदा किया जा रहा है, वह पूँजीवाद का अत्यन्त निकृष्ट और विकृत रूप है, जिस पर सैद्धांतिक रूप से विचार करने की आवश्यकता है।